२२ ज्ञानयोग : भक्तियोग : कर्मयोग

☐ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय चिन्तन धारा मानवीय व्यक्तित्व में निहित संभावनाओं की चरितार्थता का मार्ग आरोपित करने के पक्ष में नहीं है—वह मानती है कि मार्ग उसके स्वभाव से निर्धारित होता है और वही सही है। इसीलिए यहाँ अध्यात्म के क्षेत्र में मार्गों का आनन्त्य लक्षित होता है। सच्चा एवम् परिणत-प्रज्ञ निर्देशक शिष्य की योग्यता के अनुसार ही दीक्षा दान करता है और उसका मार्ग निर्धारित करता है। मर्मज्ञों की धारणा है कि मानव अभावों में 'स्वभाव' को खो तो नहीं देता, परन्तु उस पर इतना आवरण डाल लेता है कि वह रहकर भी 'नहीं' सा हो जाता है। स्वभावेतर पदार्थों के बोध के औंधे और बहिर्मुखी स्रोत 'स्वभाव-बोध' की क्षमता को दबाए हुए हैं। आवश्यकता है इन आवरणों को जीर्ण कर उस क्षमता के अनावरण की, ताकि उसकी शाश्वत भूख मिट जाय, काम्य उपलब्ध हो जाय, स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाय।

स्वभाव की उपलब्धि निषेधात्मक नहीं, विधेयात्मक है—वह दुःख निवृत्ति रूप निषेधात्मक उपलब्धि नहीं है, प्रत्युत अन्य-निरपेक्ष स्वभावात्मक सुखोपलब्धि है। कहा जाता है कि कुछ लोगों का स्वभाव रुक्ष (द्रवीभावानुपेत) होता है और कुछ लोगों का द्रवीभावात्मक। पहली प्रकार की प्रकृति वालों का मार्ग 'ज्ञान मार्ग' है—ब्रह्म विद्या का मार्ग है और दूसरी प्रकार की प्रकृति वालों का मार्ग 'भक्ति मार्ग' है। ब्रह्म विद्या और भक्ति में मधुसूदन सरस्वती ने चार आधारों पर भेद किया है—स्वरूप, फल, साधन और अधिकार। उन्होंने कहा—(१) द्रवीभाव पूर्वक मन की भगवदाकार सविकल्पक वृत्ति भक्ति है जबकि द्रवीभावानुपेत अद्वितीय आत्म मात्र गोचर निर्विकल्पक मनोवृत्ति ब्रह्म विद्या या ज्ञान है। (२) भगवद् गुणगरिमग्रथित ग्रंथ का श्रवण भक्ति का साधन है जबकि तत्वमसि आदि वेदांत महावाक्य ब्रह्म विद्या का साधन है। (३) भगवद् विषयक प्रेम का प्रकर्ष भक्ति का फल है जबकि सर्वानर्थ मूल अविद्या निवृत्ति ही ब्रह्मविद्या का फल है। (४) भक्ति में प्राणिमात्र का अधिकार है जबकि ब्रह्म विद्या में साधनचतुष्ट्य सम्पन्न परमहंस परिव्राजक का ही अधिकार है। भक्तिमार्ग स्वतंत्र है, ज्ञान-विज्ञान सभी उसके आधीन हैं। भक्त को भगवान् प्रसन्न होकर 'बुद्धि योग' प्रदान करता है जिसमें ब्रह्मविद्या निरपेक्ष अविद्या का नाश हो जाता है। भक्त भक्ति उसी तरह करता है जैसे उत्तम भोजन को पेटू। पेटू तृप्ति के लिए भोजन करता है पर भोजन की विविधाकार परिणतियां जाठर अग्नि करती है—अभिप्राय यह कि ज्ञान-विज्ञान

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

भक्त के लिए आनुषंगिक और अनिवाय उपलब्धि है—उसके लिए वह ज्ञानमार्गियों की तरह श्रम नहीं करता। वह तो सर्वात्मना आराध्य के प्रति समर्पित हो जाता है और आराध्य कृपा करके वह स्वयं उसे उपलब्ध हो जाता है। वह मानता है कि जिसे माना है उसी में अपने को डुबो दो, लीन कर दो—समर्पित कर दो। उसे साधन से नहीं पाया जा सकता, हाँ वह स्वयं ही साधन बन जाय और अपने को उपलब्ध करा दे—यह संभव है। भक्ति वह तत्त्व है जो की नहीं जाती 'जैहि पै बनि आवै'—हो जाती है—जिससे बन गई, बन गई अन्यथा प्रयत्न करते रहो—निष्फल। गजराज सुरसरि की विपरीत धार में बह जाता है—लाख प्रयत्न के बावजूद—जबकि मछली निष्प्रयास तर जाती है। ज्ञान से 'स्वरूप का बोध हो जाता है, भक्ति से 'स्वरूप' बोध के बाद कल्पित भेद की भूमि पर रस क्रीड़ा चलती रहती है। भक्ति कर्म नहीं है, भाव है, जो स्वरूप-साक्षात्कार के अनन्तर अमर होती है। जब तक स्वरूप साक्षात्कार नहीं है, तब तक अविद्या का साम्राज्य है। अविद्या से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है और 'अहंकार विमूढ़ात्मार्कताऽहमिति मन्यते'—अहंकार-ग्रस्त व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है यह अविद्याजनित-अहंकार-मूलक-कर्तृत्व बोध जब तक रहेगा, तब तक जो कुछ भी होगा—वह कर्तृत्व-सापेक्ष होने से 'कर्म' ही कहा जायगा—'भक्ति' नहीं। फलतः वास्तविक भाव राज्य का उदय अविद्या निवृत्ति एवं स्वरूप-साक्षात्कार के बाद होता है। यही 'भाव' प्रगाढ़ होकर 'प्रेम' बनता है—'भावः स एव सान्द्रत्मा बुधै प्रेमा निगधते'—

यह सब कुछ चित्त की एकतानता से संभव है—जो तब तक संभव नहीं है जब तक मलात्मक आवरण जीर्ण न हो। मलशान्ति के निमित्त निष्काम भाव से कर्म का सम्पादन अपेक्षित है।

बात यह ह कि 'कर्म' का त्याग तो सर्वात्मना संभव है नहीं। जहाँ मरना, जीना, सांस लेना और छोड़ना भी 'कर्म' है—वहां कर्म का स्वरूपतः त्याग तो संभव नहीं। सच्चा कर्मत्याग फलासक्ति का त्याग है। कर्म रूपी बिच्छू का डंक है—आसक्ति। इसी के कारण आवरणों का होना संभव होता है। फलतः इसी आसक्ति का त्याग होने से कर्म अकर्म हो जाते हैं—उनसे आवरणों का आना बंद हो जाता है—शेष को ज्ञानाग्नि भस्मसात् कर देती है। अनासक्त कर्म बंधन नहीं, मुक्ति का साधन बन जाता है—कर्म योग बन जाता है।

गीताकार ने सवाल खड़ा किया कि स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद कर्म छोड़ देना चाहिये या करना चाहिए ? भगवान् कृष्ण ने सिद्धान्त रूप में कहा कि लोक संग्रह के लिए स्वरूपोपलब्धि के बाद भी कर्म करना चाहिए। इस प्रकार स्वरूप साक्षात्कार से पूर्व मलापहार के निमित्त अनासक्त भाव से और स्वरूप साक्षात्कार के बाद लोक संग्रह के निमित्त कर्म करते रहना चाहिए।

संक्षेप में यही ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्मयोग का आशय है। □

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org